RESEARCH REVIEW International Journal of Multidisciplinary 2021; 6(3):109-113
ISSN: 2455-3085 (Online)
https://doi.org/10.31305/rrijm.2021.v06.i03.016

Research Paper

Double Blind Peer Reviewed/Refereed Journal
https://www.rrjournals.com/

बौद्ध दर्शन में सत्ता के स्तरीकरण का ऐतिहासिक सर्वेक्षण

*विवेक कुमार पाण्डेय

शोधार्थी, दर्शनशास्त्र विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

ABSTRACT

बौद्ध दर्शन अपने प्रारम्भिक रूप से ही बुद्धि की स्वतंत्रता को लेकर अग्रसर हुआ है। बौद्ध मतावलंम्बियों को यह विवेक कि स्वतंत्रता बुद्ध के द्वारा दिये गये उस वचन से है, जिसमें बुद्ध इस बात को कहते है कि 'मेरे द्वारा दिये गये किसी भी उपदेश को आस्था के रूप में नहीं स्वीकार करना बल्कि उसकी परीक्षा करके ही स्वीकार करना। बुद्ध के इसी आदेश को ग्रहण करके, बौद्ध मत अपने दार्शनिक मत को विकसित करते हैं। बुद्ध देशना के व्याख्यापरक भेद के आधार पर ही बौद्ध दर्शन विभिन्न प्रस्थानों में विभक्त हुआ। व्याख्या के इस मूल में सत्ता विषयक प्रश्न सभी बौद्ध प्रस्थानों में समान रूप से उपस्थित रहें। सत्ता के सन्दर्भ में बौद्ध प्रस्थानों में जो अन्तर दिखाई पड़ता है, वह बुद्ध वचनों में पूर्व में ही विद्यमान है। बौद्ध प्रस्थानों में परमार्थ और व्यवहार की सत्ता का जो स्वरूप हमें देखने को मिलता है, वह निश्चित रूप से बौद्ध दर्शन के सर्वांगीण विकास में एक महत्वपूर्ण योगदान रखता है।

Keywords: *बौद्ध दर्शन, बौद्ध प्रस्थान, सत्ता, स्तरीकरण।*

Article Publication

Published Online: 15-Mar-2021

***Author's Correspondence**

विवेक कुमार पाण्डेय

शोधार्थी, दर्शनशास्त्र विभाग, डॉ. हरीसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म.प्र.)

vivekphilosophy01[at]gmail.com

© 2021The Authors. Published by *Research Review Journals*

This is an open access article under the CC BY-NC-ND license (https://creativecommons.org/licenses/by-nc-nd/4.0/)

''भगवान बुद्ध द्वारा प्रवर्तित बौद्ध दर्शन एक दर्शन नहीं अपितु दर्शनों का समूह है, इनका मूल धर्मग्रन्थों की सुव्यवस्थित संहिता में न होकर मौलिक रूप से प्रसारित उपदेशों की आकार विहिन परम्परा है। बुद्ध के 'महापरिनिर्वाण' के पश्चात भिक्षु संघों द्वारा विभिन्न संगतियों का आयोजन बुद्ध वचनों को संहिताबद्ध विनयपिट्क, सुन्तपिट्क और ओमधर्मपिट्क के रूप में किया गया। यही त्रिपिट्क बुद्धों दर्शनों के संहिताबद्ध आधार हैं। बुद्ध वचनों को तीन ही पिटकों में विभाजित करने का आधार बुद्ध की तीन शिक्षाओं शील, समाधि, प्रज्ञा तथा तीन प्रकार के देशनाये आज्ञा, व्यवहार और परमार्थ हैं।

वस्तुतः बुद्ध वचनों के वास्तविक तात्पर्य का निर्धारण का जो रूप हमें देखने को मिलते है वहीं से हमें बुद्ध वचनों का द्विस्तरी स्वरूप देखने को मिलता है, बुद्ध वचनों की व्याख्या नेयार्य एवं नीतार्य रूप में किया जाता है, नीतार्थ वचन वे है जो अभिप्रायिक होते है तथा नेतार्थ वचन वो है जो शब्दशः ग्रहण किये जाते है, मूलतः व्याख्या के इस रूप के पीछे की धारणा यह रही कि बुद्ध के उपदेश एकस्तरी ना होकर पात्रों के बौद्धिक क्षमता को ध्यान में रखकर दिया गया है।[i]

इस प्रकार से सत्ता को दो स्तर बुद्ध वचनों की व्याख्या के आधार में हमें प्राप्त होता है, इसी आधार पर यह कहा जाता है कि बुद्ध ने कम से कम तीन धर्मचक्र परिवर्तनों के द्वारा अपने उपदेशों के आशय को अधिकारिक भेद के साथ प्रकट किया है, इन तीनों धर्मचक्रों की देशना तीन अलग–अलग प्रकार के पात्रों को सम्बोधित हैं। सत्ता के स्तर भेद में हमें यह प्राप्त होता है कि बुद्ध के वचन दो प्रकार के सत्यों पर आधारित हैं तथा जो इसके गुणता को नहीं समक्ष पायेगा, वह बुद्ध के गुण रहस्यों को भी नहीं समझ पायेगा, बुद्ध वचनों में सत् के दो रूपों की व्याख्या (संवृत्ति और परमार्थ) के रूप में हमें प्राप्त होता है, संवृत्ति और परमार्थ के रूप को समझे बिना बुद्धत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती है।[ii]

(I)

वैभाषिक बौद्ध प्रस्थान अभिधर्मकपिट्क को ही बुद्धवचन मानते है तथा प्रथम धर्मचक्र परिवर्तन को ही बुद्ध के नीतार्थ देशना मानते है। अभिधर्म कोश की व्याख्या में अभिधार्मीको को 'षट्पादमिधर्म + मात्रपठिन' कहा गया है, इनमें सात अभिधर्म ग्रन्थ ज्ञान प्रस्थान (कत्यायनीपूत्र), प्रकरणपाद (वसूमित्र), विज्ञान+काय (देवश्रवण), धर्मस्कन्ध (शारीपुत्र), प्रज्ञप्तिशास्त्र (मौद्रगल्याग धातुकथा पूर्ण) और संगतिपर्याय (महाकौस्यील्य) का एक संग्रह माना जाता है, इन सभी अभिधर्मकोशीय पीटक पर एक महाविभाषा नामक ग्रन्थ लिखा गया तथा जो इस विभाषा को प्रमाण मानते है, उसे वैभाषिक कहते हैं। वैभाषिकों की दार्शनिक दृष्टि बहुतत्ववादी–यथार्थवादी दृष्टि है तथा धर्म–प्रविचय के माध्यम से अपने दार्शनिक निकाओं का विकास करते हैं।

धर्म–प्रविचय से आशय है कि आन्तर एवं बाह्य अस्तित्व के सार तत्वों को चुनना। धर्म वो है, जो स्वलक्षण को धारण करते है, धर्मों की विशेषता, अश्रव–अनाश्रव एवं प्रतित्यसमुत्पन्न होना है।

वैभाषिकों के अनुसार धर्मों का स्वतंत्र अस्त्वि है, धर्म–संघातों का नहीं, हमारे सभी आन्तरिक एवं बाह्य सभी ज्ञान 'धर्म संघत' के रूप में ही प्राप्त है। इसी कारण इसे 'अवबोधोपयोगी' धर्म कहा गया है। वैभाषिक दर्शन में धर्मो को दो रूप में विभक्त किया गया है, आश्रव एवं अनाश्रव के रूप में, आश्रव वो धर्म है जो सतत् परिवर्तनशील है अर्थात सापेक्षित है तथा अनाश्रव धर्म वो है जो नित्य एवं अपरिवर्तनशील हैं, अर्थात जो शाश्वत है। इन्हीं आश्रव एवं अनाश्रव धर्म को क्रमशः संस्कृत एवं असंस्कृत धर्म कहा जाता है। स्कन्ध, धातु, आयतन आदि संस्कृत धर्म है तथा आकाश, प्रतिसंख्यनिषेध, अप्रतिसंख्या निषेध, असंस्कृत धर्मों के अन्तर्गत आते है। प्रायः सभी बौद्ध सम्प्रदाय क्षणीकवाद को एक समान रूप से स्वीकार करते है, यदि क्षणिकवाद को माना जाये तो सभी सत्ता क्षणिक है, तो वस्तुओं में स्थाई रूप कैसे प्रदान किया जा सकता है, इस जगह पर बौद्ध वैभाषिकों को कहना है कि प्रायः सभी वस्तुओं की सत्ता क्षणिक है किन्तु उनके क्षणिकता के मध्य हमारे बौद्धिक संस्कार में उनकी एक नित्य एवं स्थाई सत्ता है और यही नित्य एवं स्थाई सत्ता परमार्थीक सत है, तथा धर्मी का संघात रूप जो हमें दृष्ट होता है वो संवृत्ति सत् है, क्योंकि संवृत्ति सत् पुद्गलों का एक संघात है, और पुद्गलों की यह विशेषता होती है कि उनकी उत्पत्ति और विनाश होता है। इस प्रकार से हमें यह प्राप्त होता है कि वैभाषिकों की दार्शनिक दृष्टि पुद्गल नैरात्मवादी है तथा धर्म का अपना स्वतंत्र सत् सत्ता ही परमार्थ है तथा धर्म–संघात रूप संवृत्ति है। धर्मसंघातों का यही रूप अविद्या दृष्टि है।

वैभाषिक बौद्ध दर्शन के असंगतियों को लेकर बौद्ध संघों में उठती आपत्तियों तथा बुद्ध वचनों को सही एवं स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत करने के समान्तर सौत्रान्तिक बौद्ध सम्प्रदाय अस्थित होता है। सर्वप्रथम सौत्रान्तिक सम्प्रदाय प्रथम बौद्ध संगति को ही बुद्ध की नितार्थ देशना मानते हैं। सौत्रान्तिकों के अनुसार 'स्थविरवादी' का अभिधर्मपिटक, जिसमें सात ग्रन्थ संग्रहीत है, वह अभिधर्मपिटक बुद्धवचन नहीं हो सकता, क्योंकि इन ग्रन्थों में असंस्कृत धर्मो का द्रव्यात्मक सत्ता आदि अनेक युक्तिहीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है, वस्तुतः इन सातों ग्रन्थों की रचना बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद अभिधार्मिकों के द्वारा किया गया है, अतः ये शास्त्र है।

यशोमित्र ने अभिधर्मकोशभाष्य के टीका में सौत्रान्तिक शब्द की व्युत्पति के सम्बन्ध में लिखते है कि ''कः सौत्रान्तिकार्थः वे सुत्रप्रमाणिका, न तु शास्त्रप्रमाणिकास्ते सौत्रान्तिका।''

अर्थात सौत्रान्तिक शब्द का अर्थ है, जो सूत्र को न कि शास्त्र को प्रमाण मानते है, वो सौत्रान्तिक है। इन्हें दृष्टान्तिक भी कहते है क्योंकि ये दृष्टान्तों के माध्यम से बुद्ध वचनों की व्याख्यों करने में अत्यन्त ही निपुण होते है। सौत्रान्तिक बौद्ध सम्प्रदाय में अनेक अथार्थ हुये जिसमें मदन्त, राम, श्रीलात, वसुवर्मा आदि प्रमुख रूप से रहें। दुर्भाग्यवश सौत्रान्तिक सम्प्रदाय का अपना कोई मूल अब तक प्राप्त नहीं हो पाया है। इनके दार्शनिक सैद्धान्तिक दृष्टियों की जानकारी हमें अभिधर्मकोश एवं उसके साख्ययों से मिलती हैं। दार्शनिक दृष्टांतो के रूप में वैभाषिक एवं सौत्रान्तिकों के द्वारा 'धर्म–प्रविचय' को समान रूप से स्वीकार किया जाता है, किन्तु सौत्रान्तिकों के अनुसार धर्मों का स्वरूप वैसा नही है जैसा की वैभाषिको के द्वारा कहा जाता है, सौत्रान्तिक धर्मों के स्वरूप को लेकर यह कहते हैं कि असंस्कृत धर्मों का कोई अस्तित्व नहीं है, क्योंकि बुद्ध की देशना में नित्यता का कोई स्थान नहीं है क्योंकि बुद्ध ने सभी धर्मों को उत्पाद–व्यय–धर्मी कहा है तथा क्षणीकवाद के अनुसार वस्तु के उत्पन्न होने और उसके विनाश के बीच किसी कालिक क्रम को नहीं स्वीकार किया जा सकता है।

सौत्रान्तिकों के अनुसार बाह्य वस्तु अपनी क्षणिक धर्मता के कारण हमारी चेतना में अपनी आकृति उत्पन्न कर नष्ट हो जाती है तथा साकार चेतना के द्वारा ही बाह्यचार्य का अनुमान हो पाता है। प्रथमतः बुद्धि द्वारा विश्लेषण करने पर जिस विषय की पूर्व बुद्धि नष्ट नहीं होती है, वह परमार्थ सत्य है, नील, पीत, चिन्त, परमाणु आदि का किता भी विघटन या विश्लेषण किया जाये, फिर भी नीलबुद्धि, परमाणु बुद्धि, चिन्तबुद्धि नष्ट नहीं होती, अतः साकार, चेतन संस्कार ही सौत्रान्तिकों के मत में परमार्थ सत्य हैं अर्थात जो परमार्थतः अर्थक्रियासामर्थ है तथा प्रमाणिक बुद्धि का विषय है, वह परमार्थ सत् है। सौत्रान्तिकों के अनुसार उत्पाद के अनत्तर नष्ट होनी वाली वस्तु क्षण है, उनके अनुसार उत्पादमात्र ही वस्तु होती है वस्तुओं ही की त्रैकालिक सत्ता नही है, सौत्रान्तिकों के अनुसार वे

ही पदार्थ द्रव्यसत्य माने जाते हैं जो अपने स्वरूप को स्वयं अभिव्यक्त करते है, जिसमें किंचित्मात्र भी अध्यारोपित स्वरूप हो, रूप वेदना, संज्ञा, संस्कार आदि धर्मों का स्वरूप वैसा ही है।

परमार्थतः अर्थक्रियासामर्थ न होना संवृत्तिसत का लक्षण है, संवृत्ति का तात्पर्य विकल्प ज्ञान से है, प्रतिभासिक स्थल में जो सत्य है वह संवृत्ति सत् है, विकल्प को संवृत्ति कहते है, क्योंकि वह वस्तु के यथार्थ स्वरूप पर पर्दा डाल देती है, सौत्रान्तिकों का कहना है कि जिसके स्वरूप का स्वतः ज्ञान ना हो तथा यथार्थ परीक्षा में जिसका खण्डन हो जाये वो प्रज्ञप्ति सत् या संवृत्ति सत् है– जैसे पुदगल अपने स्वरूप को स्वतः ज्ञान में प्रकाशित नहीं करते, ना ही ज्ञान में पुदगल आदि का आभास होता है, केवल उसके अधिष्ठान में नाम रूप आदि धर्म ही उपलब्ध होते है। पुदगल कही भी उपलब्ध नहीं होता है।

सामान्यतः चित्त और चैतसिको के सम्बन्ध को सौत्रान्तिकों के द्वारा आवश्यक रूप से स्वीकार किया जाता है वैभाषिकों के द्वारा सभी की द्रव्यसत्ता होती है, वही सौत्रान्तिकों के मत के अनुसार कुछ चैतसिको का ही द्रव्यसत्ता होता है। शेष प्रज्ञप्तिसत् होते है। वेदना, संज्ञा मनस्कार ये तीन ही चैतसिक द्रव्यसत् है।

चैतसिको को जब प्रज्ञप्ति सत् कहा जाता है, तो इसका अर्थ यह नहीं होता की उसकी सत्ता नहीं है, चित्त और चैतसिक द्रव्यतः अथवा स्वभावतः अभिन्न होता है, किन्तु चैतसिक स्वभावतः चित् से पृथकत्व (भेद) और नामकरण आदि अवश्य ही प्रज्ञप्त सत् है जो संवृत्ति सत् है। इस प्रकार से सर्वास्तिवादी सम्प्रदायों (वैभाषिक और सौत्रान्तिक) के द्वारा सत्ता के स्तरीकरण का स्वरूप धर्म–प्रविचय के द्वारा किया जाता है, जहां पर परमार्थ अर्थक्रियासामर्थता को दृष्ट करता है एवं संवृत्ति सत् विकल्प ज्ञान को कहते है।

(II)

बुद्ध वचनों की जो व्याख्या सर्वास्तिवादी सम्प्रदायों के द्वारा किया गया, वह बुद्ध वचनों के सीमित स्वरूप को प्रस्तुत करता है, इस कारण कालान्तर में बौद्ध आचार्यों में विचार के मतभेद बौद्ध संगतियों में उठने लगे। बुद्ध वचनों के वास्तविक निर्धारण को लेकर बौद्ध संघों का विभाजन दो भागों (हीनयान और महायान) में हो गया, हालांकि इस विभाजन का एक पक्ष आचार सम्बन्धी भी रहा, किन्तु इसका मूल बुद्ध वचनों के व्याख्या को और स्पष्ट एवं वृहद रूप प्रदान कर जन–सामान्य तक सुलभ रूप से पहुँचाना था। इसी क्रम में बौद्ध दर्शन का एक प्रस्थान महायान के रूप में विकसित हुआ। महायान बौद्ध सम्प्रदाय में माध्यमिक शून्यवाद और योगाचार विज्ञानवाद प्रमुख रूप से है।

माध्यमिक शून्यवाद के प्रवर्तक नागार्जुन का कथन है कि भगवान बुद्ध ने दो प्रकार सत्य का निरूपण किया है। प्रथम लोक संवृत्ति और द्वितीय पारमार्थ सत्य के रूप में जो इसको नहीं जानता है वो भगवान बुद्ध के गम्भीर दर्शन का तात्पर्य कदापि नही कर सकते।

द्वे सत्ये समुपश्रित्य बुद्धानां धर्म देशना
लोक संवृन्तिसत्य च सत्यं च परमार्थतः।।
येऽयोर्न विजानन्ति विभागं सत्ययोद्वयोः।
ते तत्वं न विजानन्ति गम्भीरं बुद्धुशासने।।

(मा. कारिका 24, 8–9)

संवृत्ति अज्ञान है जो आवरण और विक्षेप दोनों है, यह तत्व के वास्तविक स्वरूप को आवृत कर देती है एवं उसकी अन्यथा प्रतीत कराती है, संवृत्ति प्रज्ञप्ति है, संकेत है लोकव्यवहार है। संवृत्ति बुद्धि विकल्पों द्वारा कार्य करती है अंतः बुद्धि को ही संवृत्ति कहा गया है। बुद्धि विकल्प ही स्तभं अविद्या का रूप ले लेता है। चन्द्रकीर्ति ने संवृत्ति में लोक संवृत्ति और मिथ्या संवृत्ति में विभक्त किया है।

लोक संवृत्ति मूलविद्या है, व्यक्तिगत अविद्या नहीं है, अतः इसका विरोध निर्विकल्प प्रज्ञा द्वारा ही सम्भव है, बौद्धिक ज्ञान द्वारा नहीं, क्योंकि वह स्वमं बुद्धि–विकल्प रूप है। प्रपंञ्य स्वभावशून्य है, सापेक्ष है, किन्तु नितान्त असत् नहीं है, उसकी व्यावहारिक सत्ता अक्षुण्ण है।

द्वितीय प्रकार की संवृत्ति मिथ्यासंवृत्ति है जो लोक में भी मिथ्या मानी जाती है या लौकिक ज्ञान से ही तिरस्कृत है या बाधित है, मिथ्या संवृत्ति अस्थाई बाधाओं से ही दूषित चक्षुर्तान आदि का विषय होता है, तिमिररोग पीति रोग तथा दादुरा–भक्षण आदि आन्तरिक बाधायें होती है, जिससे भ्रान्त ज्ञान उत्पन्न होता है।

द्विविध संवृत्ति के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए आचार्य चन्द्रकीर्ति ने सुस्पष्ट कहा है कि–

विने पद्यातेन यदिन्द्रियाणां वष्णामपि ग्राह्मभर्वेति लोकः।
सत्यं हि तल्लोकत एव शेषं, विकल्पितं लोकत एवं मिथ्या।।

(मध्यमकावरात, षष्ठचिन्तानेस्पाद, कारिका 25)

अर्थात् अज्ञान की निद्रा से उत्सम्मित व्यक्ति को प्रकल्पित आत्मा, प्रधान तथा ईश्वर आदि एवं माया तथा मरीचिका आदि की वजह से दिखलाई पड़ने वाले अश्व गज आदि लोकतः भी असत् है। अर्थात् उनका लोकव्यवहार भी अस्तित्व नहीं है। एक अन्य स्थान पर चन्द्रकृति कहते है कि विषयी लौकिक ज्ञान दो प्रकार की होती है। इन दो संवृत्तियों की व्यवस्था लोक प्रचलित अवस्था की दृष्टि से की गई है। माध्यमिक की अपनी दृष्टि से ऐसा नहीं किया जा सकता है, क्योंकि माध्यमिका की अपनी दृष्टि से सभी लौकिक ज्ञान भ्रान्त है तथा अपहत है। अतः रूपादि समस्त पदार्थ मिथ्या ही मिथ्या है, तथ्य तो कोई भी नहीं है, तथ्य केवल शून्यता है। अतः संवृत्ति के दो प्रकार केवल लोकतः स्थापित किये गये हैं।

माध्यमिक दर्शन में वस्तुओं का दूसरा रूप निःस्वभावता या निःस्वलक्षणा है। यही निःस्वभावता या निःस्वलक्षणा शून्यता है। बुद्धि के प्रपंचों से रहित होने के कारण तत्व प्रपंचशून्य है, केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से ही तत्व को शून्य कहा गया है तथा यह चतुष्कोटि विनियुक्त है।

आचार्य चन्द्रकृति के अनुसार निःस्वमानता परमार्थसत्य है, पर यह परमार्थतः सत् नहीं है अर्थात् उसकी पारमार्थिक सत्ता नहीं है, क्योंकि उसकी स्वभाविक सत्ता नही है जैसे घट आदि अन्यों पर आपेक्षित है, उसी प्रकार निःस्वभावता स्वयं निःस्वभाव है।[पपप] माध्यमिक दर्शन में अद्वैत वेदान्त की तरह पारमार्थिक सत्ता के सत् भावरूप की तरह शून्यता (निःस्वभावता) कोई तत्त्विक सत् नहीं है। नागार्जुन वस्तुओं का खण्डन करते–करते उन्हें शून्य कर देता है तथा पुनः शून्य को भी अकील सिद्ध कर देते हैं, क्योंकि शून्य तभी रह सकता है जब अशून्य भी हो और चूंकि अशून्य जैसा कुछ भी नहीं है। अतः शून्य भी नहीं बन सकता–

''यद्य शून्यं भवते किंचित स्थाच्छून्यमिति किंचिन
न किंचित स्त्पशून्यं च कुतः शून्य भविष्यति।। (मा.शा. 22/11)

इस प्रकार माध्यमिक बौद्ध दर्शन में शून्यता परमार्थ सत् है जो आत्म अनुभूति का विषय है।

महायान सम्प्रदाय का एक अन्य प्रस्थान में सत्ता को तीन रूपों में विभेदित किया गया है। विज्ञानवाद के अनुसार परिकल्पित की कोई सत्ता नहीं होती है। वह आकाशकुसुम और बन्ध्यापुत्र शशश्रृङ्ग के समान त्रिकाल में असत है। अतः उसे 'अभूत' कहा गया है। कल्पना मात्र होने के कारण उसे परिकल्पित कहा गया है। निरन्तर असत् होने पर भी उसका परतन्त्र पर उपचार, आरोप या अध्यारोप किया जाता है। उपचरित या आरोपित पदार्थ के रूप में साधारण लोक व्यवहार में उसकी प्रतीति होती है, किन्तु वह भ्रम है और प्रतीति होने की शक्ति भी पदार्थ में नहीं है, अपितु परतन्त्र विज्ञान में है जो अर्थाकार लेकर अर्थ के रूप में प्रतीत होता है। भ्रम चाहे वह व्यक्तिगत हो या समष्टिगत भ्रम ही होता है, क्योंकि दोनों रूपों भ्रम के घटक समान ही होते है। यही ग्राह्य–ग्राहक वासना है जो विज्ञान को अर्थाकार रूप प्रदान करता है। विज्ञानवाद में ग्राह्य–ग्राहक–द्वैत या प्रभात–प्रमेय द्वैत के लिए **'अर्थ'** शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसमें मानस और बाह्य दोनों अर्थ आ जाते हैं, क्योंकि ये स्वसम्वेदन के मानस पदार्थ और 'विषय' हैं। लोक व्यवहार के समस्त विषय, पदार्थ, आत्या, मानस पदार्थ (धर्म), इन्द्रियाँ, मन आदि सब 'अर्थ' शब्द के अन्तर्गत आते हैं। विकल्प (परतन्त्र) द्वारा जो भी वस्तु विकल्पित की जाये, चाहे वह आध्यात्मिक (मानस) हो चाहे वह सब बाह्य या फिर बुद्ध धर्म ये सभी परिकल्पित स्वभाव हैं।

''चद् यद् वस्तु विकल्प्यते आध्यात्मिकं बाह्यं वान्तशो।
यावत् बुद्धधर्मा अपि परिकल्पित एवासौ स्वभाव।।''

(त्रिंशिकाभाष्य, 39)

परिकल्पित स्वभावतः असत् है, द्रव्यतः इसकी कोई सत्ता नहीं होती है, तथापि इस 'अभूत' की भी 'अस्ति' इस रूप में कल्पना कर ली जाती है, क्योंकि साधारण लौकिक व्यवहार में इसकी, प्रतीति होती हैं, अतः इसे भी 'स्वभाव' कहा जाता है।[पअ]

परतन्त्र की सत्ता सापेक्षित है। प्रतीत्यसमुत्पन्न होने के कारण परतन्त्र कहा जाता है क्योंकि यह कारण–कार्य–नियम से तन्त्रित है। परिनिष्पन्न में अनादि अविद्या या ग्राह्य–ग्राहक वासना का स्फुरण होते ही वह परतन्त्र में प्रतीत होता है। अविद्या और कर्म–संस्कार के होती ही प्रतीत्यसमुत्पादचक्र चलने लगता है। अनादि मूल ग्राह्य–ग्राहक विकल्पवासना और तज्जन्य समस्त बुद्धिविकल्पों के द्वारा परतन्त्र विविध अर्थाकार विज्ञानों में परिणीमत होता रहता है, इस की स्वतंत्र सत्ता नहीं है, सापेक्ष सत्ता है क्योंकि यह कारण की अपेक्षा रखकर, हेतु प्रत्ययों पर निर्भर रहकर उत्पन्न होता है।[v]

परिनिष्पन्न स्वभावतः विशुद्ध विज्ञप्तिमात्र तत्व है। यह नित्य, सुख, अद्वय, निर्विकल्प, निरपेक्ष, प्रत्यात्मकवैद्य, विशुद्ध विज्ञानमात्र है। यही परमार्थसत् है। यही शुद्ध चैतन्य है; यही अखण्ड आनन्द है, इसमें ग्राह्य–ग्राहक वासना का नितान्त अभाव है। इसे द्रव्यशून्य, ग्राह्य–ग्राहक शून्य विकल्पशून्य कहा गया है, यह परिणाम रहित–नित्य तत्व है सदा अविकार रूप में रहने के कारण इसे परिनिष्पन्न कहा जाता है। सभी धर्मों के परगामी भी है। न तो यह सब धर्मों का सामान्य है, न तो यह सब धर्मों के ऊपर उनसे विलक्षण एक

धर्म है। सभी धर्म इसी की सत्ता से प्रकाशित होते है, अद्वय विशुद्ध ज्ञान होने से परिनिष्पन्न विज्ञप्तिमात्रता है। आचार्य वसुबन्धु ने इसे अत्यन्त विशुद्ध अनास्त्रव धातु, अचित्य, कुशल, ध्रुव, सुख, विमुक्तिकाय तथा महामुनी भगवान बुद्ध का धर्मकाय बताया है।[vi]

इस प्रकार से बौद्ध दार्शनिक प्रस्थानों के प्रारंभिक विचारों से ही हमें सत्ता के अलग–अलग विभाग दृष्ट होते रहे है, जिसमें सर्वास्तिवाद (वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक) प्रस्थानों में धर्म और धर्म–प्रविचय के रूप में वो अलग–अलग सत्ताओं का बोध हो रहा है तथा ये ही विचार आगे चलकर निरपेक्षवाद के रूप में माध्यमिक बौद्ध दर्शन एवं विज्ञानवाद में अपने पूर्ण रूप में प्रकट होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार बौद्ध साहित्य एवं दर्शन का विकास क्रमिक रूप में होता रहा, इसी के मध्य में बुद्ध वचनों के यर्थाथता को प्रकट करने में एवं बुद्ध की शिक्षाओं का सारत्व प्रस्तुत करने का युक्ति पूर्ण प्रयास ही। बौद्ध प्रस्थानों के विकास का मुख्य आधार बना है। सत्ता विषय ये प्रश्न आकस्मिक ना होकर बौद्ध प्रस्थानों में भगवान बुद्ध के वचनों के साथ ही जुड़ा हुआ है।

सन्दर्भ सूची

i रचनावली–4 / 95

ii मूल माध्यमिक कारिका, 1 / 2

iii बौद्ध एवं अद्वैत वेदान्त, चन्द्रधर शर्मा, स्टूडेंट फ्रैंडस पब्लिकेशन, इलाहाबाद, पृ.205

iv ''अभूतमपि अस्तीति परिकल्प्यते इति परिकल्पित उच्यते।
स हि द्रव्यतोऽसत्रीप व्यवहारतोऽस्तीति स्वभाव उच्चते।।''
(मध्यान्तविभागटीका, 19)

v ''परैर्हेतुप्रत्ययैस्तन्त्रयते इति परतन्त्र उत्पाद्यतेइत्वर्थः। (त्रिंशिकाभाष्य, 39)

vi ''स एवानास्त्रवो धातुरचित्त्यः कुशलो ध्रुवः।
सुखो विमुक्तिकायोऽसौ धर्मरत्योऽयं महामुनेः।।'' (त्रिंशिका, 27)